



स्कन्दपुराणीय सूतसंहिता और जीवनमूल्य

ग्रीन अवस्थी

शोधच्छात्र, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

जीवन मूल्यों की चर्चा में लोककल्याण, विश्वबन्धुत्व, स्वार्थ-त्याग की भावना से ही मानवता का विकास संभव है। हमारे पूर्वजों ने मानवता के उपाकाल से ही इन जीवन मूल्यों को आचरण में जीने की असाधारण क्षमता अपने भीतर प्रदर्शित की थी। इतिहाससिद्ध ज्ञान के प्रथम प्रकाश वेदों में ऋषियों की आसवाणी से प्रस्फुटित जीवन आदर्श ही इसके जीवन मूल्य हैं।

पुराण के अनेक सिद्धान्तों में इतनी आधुनिकता दृष्टिगोचर होती है कि उनके कर्ता की दिव्य दृष्टि की श्लाघा करते हम तृप्त नहीं होते। भागवतपुराण ने साम्यवाद का जो गूढ मन्तव्य एक श्लोक में सूत्र रूप में रखा है उसको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

**यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥**

भारतीय संस्कृति के मूलाधार के रूप में वेदों के अनन्तर पुराणों का सम्मानपूर्ण स्थान है। वेदों में वर्णित आगम रहस्यों तक जन सामान्य की पहुँच नहीं हो पाती, परंतु भक्ति रस परिप्लुत पुराणों की मंगलमयी, शोक निवारिणी, ज्ञान प्रदायिनी दिव्य कथाओं श्रवण-मनन, पठन-पाठन कर जन साधारण भी भक्ति तत्त्व का अनुपम रहस्य सहज ही जान लेते हैं²। वायुपुराण में कहा गया है-

**यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥³**

प्राचीन काल से प्रणीत होने के कारण यह पुराण कहा जाता है जो इसकी व्याख्या जानता है वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। महाभारत में कहा गया है- **पुराणसंहिताः पुण्याः कथाः धर्मार्थसंश्रिताः**⁴ अर्थात् पुराणों की कथाएं धर्म और अर्थ को प्रदान करने वाली हैं। अध्यात्म की दिशा में अग्रसर होने वाले कल्याणच्छु साधकों के पौराणिक कथाओं के अनुशीलन से तात्त्विक बोध की उपलब्धि होती है। साथ ही हृदय में प्रभुपाद-पद्मों की वास्तविक प्रीति अथवा अनुरक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठती है। परमात्म दर्शन के लिए श्रद्धापूर्वक अत्यन्त कल्याणकारी पुराणों का परायण करना चाहिए। पंचम वेद के रूप में दिव्य पौराणिक ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा जी के द्वारा अभिव्यक्त हुआ

इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।

सर्वेभ्यः एव वक्त्रेभ्यः संसृजे सर्वदर्शनः⁵॥

भारतीय संस्कृति का विज्ञान हमें पुराणों द्वारा प्राप्त होता है। इसके द्वारा भारतीय प्रतिभा का उत्कृष्ट फल प्रतिफलित होता है।

आश्रमव्यवस्था

प्राचीन भारतीय विचारकों ने चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को मानवजीवन का प्रयोजन माना और इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार के श्रम को आवश्यक और अनिवार्य माना, फलतः मानव जीवन चार अवस्थाओं में विभक्त हुआ और प्रत्येक के लिए विशेष प्रकार के आचार का विधान हुआ। ब्रह्मचर्य जीवन का प्रथम आश्रम था, जिसमें मनुष्य इन्द्रियसंयम पूर्वक गुरुकुल में विद्याध्ययन करता था। विद्या समाप्ति के अनन्तर विवाहित होकर वह जीवन के द्वितीय भाग गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। तीसरे आश्रम वानप्रस्थ में वह वन में प्रस्थान करता था और वहाँ सीमित साधन वाला होकर तपश्चरण करता था। संन्यास आश्रम का सम्बन्ध मनुष्य की अन्तिम अवस्था से था, जिसमें मानव पूर्ण त्यागमय जीवन यापन कर चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होता था। आश्रम धर्म का आशय इन चारों अवस्थाओं के लिए निर्दिष्ट विभिन्न आचारों से था⁶।

ब्रह्मचर्याश्रम

यह जीवन का प्रथम आश्रम है, जो उपनयन से प्रारम्भ होता है। यह एक प्रकार का धार्मिक शिष्य-वृत्तित्व है, जिसमें ब्रह्मचारी उपनीत होकर आचार्यकुल में वेदाध्ययन एवं ब्रह्मचर्याश्रम के धर्मों का पालन करता है। इस आश्रम में दीक्षित व्यक्ति के लिए यज्ञोपवीत के अतिरिक्त दण्ड, मेखला, कृष्णाजिन तथा श्वेत या काषाय वस्त्र को सूत्रोक्त पद्धति से मन्त्रपूर्वक धारण करने का विधान है-

उपनीतो द्विजो वेदानधीयीत समाहितः।

दण्डं यज्ञोपवीतं च मेखलां च तथैव च॥

कृष्णाजिनं च काषायं शुक्लं वा वस्त्रमुत्तमम्।

धारयेन्मन्त्रतो विद्वान् सवसूत्रोक्तेन वर्त्मना॥

¹ भा. महापुराण-७/१४/८

² पुराण-निर्माणाधिकरण, पृ-१०१

³ वायु.पुराण- १/२०३

⁴ म.आदिपर्व- १/१६

⁵ श्री. भा. म- ३/१२/३९

⁶ सू.सं.मी, पृ-६३

ब्रह्मचारी वेदाध्ययनकाल में यदि निवृत्ति (वैराग्य) का भाव बढ़ा सके, तो वह सीधे परमहंस अर्थात् सन्यास की सबसे उच्च स्थिति का जीवन प्राप्त कर सकता है-

**एवमभ्यसतस्तस्य वैराग्यं जायते यदि।
प्रव्रजेत् परमे हंसे मोक्षकामनया द्विजः।
नैष्ठिको वा गृही वाऽपि भवेत्कामी यथारुचि⁷ ॥**

सूतसंहिता ब्रह्मचर्य से सीधे सन्यास लेने की स्वीकृति देकर आश्रमविकल्प का समर्थन करती है। उसका यह समर्थन धर्मसूत्र और स्मृतिसम्मत है।

गृहस्थाश्रम

यह जीवन का द्वितीय आश्रम है। 'गृहे तिष्ठति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार घर में रहने वाले को गृहस्थ कहा जाता है। गृहस्थ 'गृही' शब्द से भी अभिहित होता है। 'गृहाः दाराः सन्ति अस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पत्नीवान् को गृही (गृहस्थ) कहा जा सकता है। 'गृहिणी गृहमुच्यते' यह उक्ति भी गृही के उपर्युक्त अर्थ का समर्थन करती है। सूतसंहिता के अनुसार प्रथम आश्रम (ब्रह्मचर्य) में निर्दिष्ट धर्मों का पालन करते हुए गुरुचरणों में वेदाध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से जीवन के द्वितीय आश्रम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है- **आचार्यानुज्ञया युक्तः स्नात्वा गार्हस्थ्यमाविशेत्⁸**। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के अनन्तर सूत्रोक्त विधि से स्वगोत्रभिन्न कुलीन कन्या से विवाह तथा उसके साथ संयतभाव से धर्माचरण करना चाहिए- **'अनुकूले कुले गोत्रप्रवरादिविवर्जिते⁹**। अपने धर्म का पालन करते हुए यदि सद्गृहस्थ को विराग उत्पन्न हो जाय तो वह सीधे संन्यास ग्रहण कर सकता है-

**एवं समाचरन् विप्रो विरक्तश्चेद् गृहाश्रमात्।
संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदान्ताभ्यासयत्नवान्¹⁰॥**

यदि गृहस्थ को विराग उत्पन्न न हो सके तो उसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। अथवा जीवनपर्यन्त गार्हस्थ्य जीवन का पालन करना चाहिए। सूतसंहिता का प्रतिपादन है कि गृहस्थाश्रम शेष तीन आश्रमों का उपजीव्य है, अतः वह श्रेष्ठ है-

**गृहस्थाश्रमाः सर्वे समुत्पन्नाः सुरक्षिताः।
तस्माद् गृहस्थ एव स्यादविरक्तो द्विजः सदा¹¹॥**

सूतसंहिता का गृहस्थाश्रम की प्रशस्तता के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार धर्मसूत्रों, स्मृतिग्रन्थों एवं महाभारत से प्रभावित है। सूतसंहिता ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम से सीधे संन्यास ग्रहण करने की छूट देकर आश्रमसमुच्चयक्रम के नियम में ढील देती नजर आती है। वस्तुतः अन्य

तीन आश्रमों के स्वरूप-लाभ और स्वधर्मपालन पर ही निर्भर करते हैं। अतः गृहस्थाश्रम की प्रशस्तता सर्वथा उपयुक्त है।

वानप्रस्थाश्रम

यह जीवन का तृतीय आश्रम है। इसमें गृहस्थ अपनी पत्नी का उत्तरदायित्व पुत्र को देकर अकेले अथवा पत्नी के साथ वन में प्रस्थान करता है- **पुत्रे भार्या विनिक्षिप्य गृहीत्वा वा समाहिताः¹²**। वानप्रस्थ शब्द से ही वन में रहने तथा वहाँ पर होने वाले धर्म का भाव झलकता है- **'वनमेव प्रस्थो वनस्य वा प्रस्थः वनप्रस्थः तत्र भवः वानप्रस्थः¹³**। इस आश्रम में प्रवेश के लिए वर्ष के उत्तरायण में शुक्लपक्ष के किसी शुभ दिन में घर छोड़ देना चाहिए। इस आश्रम में प्रवेश के बाद वानप्रस्थी यमादि का पालन करते हुए शुद्ध चित्त से तपस्या करे व कन्द-मूल फल से अथवा गाँव से प्राप्त भोजन से जीवन-निर्वाह करे। वानप्रस्थ आश्रम में मानव को क्रमशः सांसारिक विषय से दूर करने का नियमित अभ्यास करना अभीष्ट था। वस्तुतः विषय-वासनाओं में आसक्त प्राणी परमपुरुषार्थ मोक्ष की ओर उन्मुख नहीं हो सकता या होने पर भी बाधाओं के उपस्थित होने पर उन्मुख भी हो सकता है। अतः इस विषय पर सभी विचारशील लोग एकमत है कि गृहस्थाश्रम में धर्मार्थकामरूप त्रिवर्गों की प्राप्ति के बाद वानप्रस्थी को अर्थ और काम का परित्याग करना चाहिए। उसे सीमित साधन होकर धर्म का पालन करते हुए मोक्ष की ओर दत्तचित्त होना चाहिए। वानप्रस्थ में संयत एवं धर्माचरण से पवित्र हृदय वाला व्यक्ति ही संन्यास ग्रहण करने का वास्तविक अधिकारी है¹⁴।

संन्यासाश्रम

यह जीवन का अंतिम आश्रम है। 'संन्यास' का अर्थ है 'पूर्णत्याग'- **सम्यक् न्यासः प्रतिग्रहाणां संन्यासः¹⁵** पूर्णत्याग से तात्पर्य है 'सांसारिक विषयों से पूर्ण वैराग्य'। संन्यासी के लिए अन्य व्यवहृत शब्द हैं - परिव्राजक, भिक्षु, न्यासी या परिव्राट्¹⁶। धर्मसूत्रों में संन्यासी के विषय में खा गया है कि उसे किसी प्रकार का संग्रह नहीं करना चाहिए-**अनिचयो भिक्षुः¹⁷**। वेद के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों का परित्याग उसका मुख्य कर्तव्य है¹⁸। मनुस्मृति में संन्यासी को 'त्रिदण्डी' कहा गया है। त्रिदण्ड का तात्पर्य है वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड से है-

**वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
स्यैत निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते¹⁹॥**

मनु का यह कथन, संन्यासी को मनसा, वाचा, कायेन सन्यस्त होना चाहिए, इस तथ्य की ओर संकेत करता है। याज्ञवल्क्य ने भी त्रिदण्डी शब्द का प्रयोग सम्भवतः इसी आशय से किया है- **'सर्वभूतहितः**

7 सू.सं-२/३/२५

8 सू.सं- २/४/२

9 सू.सं- २/४/२ व

10 सू.सं- २/४/२८, २९ व

11 सू.सं-२/४/३२

12 सू.सं-२/५/१ व

13 अ.को.रा.टी- २/७/३

14 सू.सं.मी-पृ-७०

15 बौधायन, १०/१ पर विवरण टीका

16 वशिष्ठ अध्याय १०, गौतम १/३/२, और विष्णुपुराण १/३/३६, ३/१८/३६ क्रमशः द्रष्टव्य

17 गौतम-१/३/१०

18 'संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्'- वशिष्ठ १०/४

19 मनु-१/२/१०

शान्त्रिदण्डी सकमण्डलुः²⁰। सूतसंहिता भी संन्यासी को त्रिदण्ड धारण करने का निर्देश देती है- 'शिखी यज्ञोपवीती स्यात्त्रिदण्डी सकमण्डलुः'²¹। संन्यास की धारणा का संकेत छान्दोग्योपनिषद् (२/२३/१) में मिलता है। सूतसंहिता के टीकाकार के मत से छान्दोग्योपनिषद् में निर्दिष्ट धर्म के तीन स्कन्ध सांसारिक फलविषयक हैं। सांसारिक फल से विरक्त होने के लिए शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से ज्ञानस्कन्ध-संन्यास का कथन 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द से किया गया है। ब्रह्म में सम्यक् निष्ठा वाला चतुर्थाश्रमी ही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है²²। सूतसंहिता ने आश्रमों के क्रम की अपेक्षा त्याग की प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व दिया है। जहाँ स्मृति समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य के त्रिविध ऋण को ध्यान में रख कर आश्रम-समुच्चय की व्यवस्था देती है, वहीं सूतसंहिता आत्मज्ञान को विशेष महत्त्व देकर आश्रम-विकल्प की स्वीकृति देती है। सूतसंहिता के अनुसार संन्यास मुक्तिप्राप्ति के अनन्य साधन होने के साथ ही पापकर्मों से मुक्ति प्रदान करने का सर्वोत्तम साधन है-

संन्यासेन समं नास्ति प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमाः।
अतः पापनिवृत्त्यर्थं संन्यसेत् परितापितः²³॥

सूतसंहिता ब्राह्मणादि त्रिवर्णों के अतिरिक्त विरक्त शुद्र और स्त्री को भी संन्यास ग्रहण करने की अनुमति देती है-

विरक्तानां प्रबुद्धानां वैश्यानाञ्च तथैव च।
शूद्राणाञ्च तथा स्त्रीणां प्राणसंयमनं मुने²⁴॥

महाभारत के आश्रमिक पर्व (२३६/३३) में आया है कि विदुर संन्यासी के रूप में भूमी में गाड़े गये। इस पर टीकाकार नीलकण्ठ ने लिखा है इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शूद्र भी संन्यासी बन सकते थे। प्राचीन ब्राह्मण कालों में कभी-कभी स्त्रियाँ भी संन्यास ग्रहण करती थीं। मिताक्षरा (याज्ञ.३/५८) ने बोधायन के एक सूत्र (स्त्रीणां चैके) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि कुछ आचार्यों के मत में स्त्रियाँ भी संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो सकती थीं²⁵। पुराणों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का एक दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्टतः समझाया गया है-

धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत् यावता।
जीवेस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः²⁶॥

धर्म का फल है संसार के बन्धनों से मुक्ति। धर्म से यदि किसी ने कुछ सांसारिक सम्पत्ति उपार्जन कर ली तो इसमें उस धर्म की कोई सफलता नहीं है। इसी प्रकार धन का एक मात्र फल है धन का अनुष्ठान, यदि

किसी ने धर्म से कुछ भोग की सम्पत्ति एकत्रित कर ली है तो यह कोई वास्तविक लाभ की स्थिति नहीं है। शास्त्रों ने काम को भी पुरुषार्थ माना है, किन्तु उस पुरुषार्थ का अर्थ इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है। जितना उपयोग करने से हमारा जीवन निर्वाह हो जाये उतना ही उपयुक्त है। यंहा काम पुरुषार्थ से अभिप्रेत है तथा जीवन निर्वाह का जीवित रहने का भी फल यह नहीं है कि अनेक प्रकार के कर्मों के बन्धन में पडकर इहलोक या परलोक का सांसारिक सुख प्राप्त किया जाय। उसका परम लाभ तो यह है कि वास्तविक तत्त्व की, भगवत्तत्त्व को जानने की शुद्ध इच्छा हो। वस्तुतः सारे साधनों का फल है भगवान् की प्रसन्नता को प्राप्त करना²⁷। स्कन्दपुराणीय सूतसंहिता में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि शाश्वत मूल्यों के साथ ही इसके सहायक मूल्य (सत्य, अहिंसा, दया, दानदि) का विस्तृत वर्णन किया गया है-

अहिंसा

वेदोक्त विधि के बिना शरीर, मन तथा वचन से किसी को कष्ट देना हिंसा है और इसके विपरीत अहिंसा है, अर्थात् मन, वचन, और कर्म में अहिंसक होना ही अहिंसा है।

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधना।

कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा²⁸॥

सूतसंहिता कायिकादि अहिंसा को 'अपरा' अहिंसा की संज्ञा देती है और अहिंसा की पूर्णता इस ज्ञान में मानती है कि आत्मा सर्वगामी, अविभाज्य और अविनाशी है। अहिंसा की इसी उच्च भावभूमि को, जो कि आध्यात्मिक दृष्टि की परिचायक है, सूतसंहिता 'परा' अहिंसा कहती है²⁹।

सत्य

स्वस्थ तथा प्रामाणिक इन्द्रियों से दृष्ट अथवा श्रुत वस्तु का यथार्थ रूप में कथन ही सत्य है³⁰। अहिंसा की भांति सत्य भी 'अपर' और 'पर' भेद से दो प्रकार का होता है। सत्य का उपर्युक्त स्वरूप 'अपर' है और परमात्मा ही सर्वसत्य है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है³¹। सभी वस्तु ब्रह्मरूप से ही सत्य है, यह भावना 'पर' सत्य है। पातञ्जल योगदर्शन में सत्यप्रतिष्ठा के फल के विषय में कहा गया है कि जब साधक सत्य के पालन में पूर्ण परिपक्व हो जाता है, तब वह कर्तव्यपालनरूप क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है- सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्³²। उसकी वाणी सिद्ध हो जाती है।

अस्तेय

दूसरों के तृण से लेकर मौक्तिक तक मन में से भी निवृत्ति 'अपर' अस्तेय है और देहेन्द्रियादि से भिन्न आत्मतत्त्व का अन्वेषण ही 'पर' अस्तेय है³³। परमार्थ दृष्टि से अनात्मभूत देहेन्द्रियादि को ही आत्मा समझना आत्मापहार (आत्मा की चोरी) कहलाता है। अतः देहेन्द्रियादि से भिन्न आत्मा का अनुसंधान आध्यात्मिक अस्तेय है। जिसे 'पर अस्तेय' कहा

²⁰ याज्ञ.,- ३/५८ अ

²¹ सू.सं- २/६/४ अ

²² सू.सं- २/६/१ पर ता.टीका

²³ सू.सं-४/४३/११७

²⁴ सू.सं- २/१६/१४-१५

²⁵ काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास, हि.संस्करण, भाग-१, पृ-४९७

²⁶ श्रीमद्. भा. १/२/१-१०

²⁷ पुराणनिर्माणाधिकरणम्, पृ-९५

²⁸ सू.सं- २/१३/४

²⁹ सू.सं.मी- पृ-१५४

³⁰ सू.सं-२/१३/६

³¹ सू.सं.मी-पृ-१५४

³² पा.यो.सू-२/३६

³³ सू.सं-२/१३/८-९

गया है³⁴। अस्तेय के फल के सम्बन्ध में पतञ्जलि का कथन है कि जब साधक में अस्तेयभाव पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है, तो गुप्त स्थान में भी पडी हुई समस्त रत्नराशि उसके समक्ष प्रकट हो जाती है-

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्³⁵।

दया

शरीर, मन, तथा वचन से सभी प्राणियों में आत्मवत् अनुकम्पा ही दया है-

**आत्मवत् सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा।
अनुकम्पा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः³⁶॥**

अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा दूसरों के साथ भी वही सहानुभूति रखना, जो मनुष्य अपने साथ रखता है 'दया' है। टीकाकार के अनुसार रक्षाभिमुखी बुद्धि ही अनुकम्पा है। रोगी, दुःखी, शत्रु, मित्र अथवा किसी दूसरे की रक्षा करने की भावना को 'दया' शब्द से अभिहित किया गया है³⁷।

आर्जव

आर्जव दया से इस रूप में भिन्न है कि आर्जव में समानता पर तथा दया में सहानुभूति पर जोर दिया गया है³⁸। भगवद्गीता में भी उपकारी, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, सज्जन एवं पापियों में समबुद्धि रखने वाला श्रेष्ठ कहा गया है³⁹। गीता की यह समबुद्धि 'आर्जव' का ही संकेत है।

क्षमा

शरीर, मन तथा वचन से शत्रु द्वारा पीडित होने पर भी चित्त में क्षोभ उत्पन्न न होने देना ही क्षमा है⁴⁰। सूतसंहिता क्षमा के सामान्य अर्थ से ऊपर उठकर आत्मनियन्त्रण की ओर संकेत करती है। प्रतिशोध की भावना मानव की दुर्बलता है। ऐसी स्थिति में शान्त और सन्तुलित बने रहने के लिए दृढ मनःशक्ति की आवश्यकता है⁴¹। वस्तुतः विकार के कारण के उपस्थित होने पर भी जिसमें चित्त विकार उत्पन्न न हो, वही धीर है- विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः⁴²।

आस्तिक्य

वेद और स्मृति आदि पवित्र ग्रन्थों में विश्वास रखना आस्तिक्य कहलाता है- श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते⁴³।

दान

³⁴ सू.सं-२/१३/९ ता.टीका.

³⁵ पा.यो.सू-२/३७

³⁶ सू.सं-२/१३/११व-१२अ

³⁷ सू.सं-२/१३/१२ व, ता.टीका

³⁸ सू.सं.मी-पृ-१५६

³⁹ भ.गीता-६/९

⁴⁰ सू.सं- २/१३,१३ व १४ अ.

⁴¹ सू.सं.मी- पृ-१५६

⁴² कुमार सम्भव-५/५९

⁴³ सू.सं-४/१४/७

न्यायपूर्वक अर्जित धन, अन्न अथवा अन्य वस्तु को जरूरतमंद को श्रद्धापूर्वक प्रदान करना ही दान है। धार्मिक कृत्यों में दान का सम्मानपूर्ण स्थान है। दान-धर्म का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है। कलियुग में इसकी विशेष उपादेयता है। वैदिक साहित्य, धर्मशास्त्र एवं पुराणसाहित्य में दान के महत्त्व का विस्तृत वर्णन है। मनु ने दान को कलियुग में धार्मिक जीवन का प्रमुख रूप कहा है⁴⁴। यम के अनुसार चारों आश्रमों के विशिष्ट धर्म हैं- 'यतियों का धर्म है शम, वानप्रस्थों का अनाहार, गृहस्थों का दान एवं ब्रह्मचारियों का धर्म है शुश्रूषा⁴⁵। सूतसंहिता के अनुसार विद्यादान, भूमिदान, गोदान, अर्थदान, कन्यादान और अन्नदान ये छः प्रकार के दान हैं। संहिता सभी प्रकार के दानों में विद्यादान को श्रेष्ठ मानती है। क्योंकि इस दान का फल मोक्ष है-

**सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं परं स्मृतम्।
विद्यया प्राणिनां मुक्तिस्तस्मात्तद्दानमुत्तमम्॥
भूमिदानञ्च गोदानमर्थदानं तथैव च।
कन्यादानञ्च मुख्यं स्यादन्नदानं तथैव च⁴⁶॥**

संतोष

जितना प्राप्त हो जाए उसी में प्रसन्न रहना 'अपर' सन्तोष और ब्रह्मादि लोकपर्यन्त में विरक्ति एवं परमात्मा में प्रेम पर सन्तोष है-

**यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या या जायते नृणाम्।
तं संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः॥
ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद् विरक्तस्य परात्मनि।
प्रियं यत्तन्महाप्राज्ञाः संतोषं परमं विदुः⁴⁷॥**

निष्कर्ष

पुराण भुक्ति-मुक्ति का आदर्श मानता है। जीवन में भुक्ति जीवनोपरान्त मुक्ति दोनों की प्रतिष्ठा मानव के कल्याणार्थ पुराण का सिद्धान्त है। सूतसंहिता के अनुसार आश्रमधर्म का पालन भारतीय संस्कृति के संवर्धन का मूल उपाय है। संहिता में इस धर्म का विशद तथा स्वच्छ रूप वर्णन किया गया है। धर्म परायणता ही मुक्ति का सुलभ उपाय है। वह मुख्य धर्म तो वेद मूलक ही है। सत्य, अहिंसा, दया, दानादि की आधारशिला पर ही धर्म मुक्ति का द्वार उद्घाटित करता है। पुराण व्यावहारिक दर्शन का उपदेश देता है। विचार तथा आचार, चिन्तन तथा व्यवहार इन दोनों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर जीवन व्यतीत करना प्राणी का कर्तव्य है।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

1. सूतसंहिता-तात्पर्यदीपिकोपेता, दक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९९९।
2. सूतसंहितामीमांसा- डा. रमाकन्त झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् २००५।
3. श्रीमद्भागवतमहापुराण- गीताप्रेस गोरखपुर।
4. स्कन्दपुराण, श्रीकृष्णदास. वे.प्रे.मुम्बई, १९१०ई

⁴⁴ मनुस्मृति- १/८६

⁴⁵ यम (हेमाद्रि, दान, पृ-६

⁴⁶ सू.सं-२/८/१अ-३अ

⁴⁷ सू.सं-२/१४/५ व-७अ।

5. वायुपुराणम्, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद ।
6. पुराणनिर्माणाधिकरणम् (समीक्षात्मक अध्ययन)- डा. सत्यवान कुमार, सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली- ५९, सन्-२०११
7. विष्णुपुराण का भारत- डा. सर्वानन्द पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सम्वत्-२०२४
8. वेदव्यास, श्रीमहाभारतम्, नाग प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९८८
9. शिवराज आचार्य कौण्डिन्यायन, मनुस्मृति, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी, सन् २००७।
10. काणे, पाण्डुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, सन् १९९३
11. भट्टाचार्य, रमाशंकर, पातञ्जलयोगसूत्रम्, भारतीयविद्या प्रकाशन, दिल्ली- वाराणसी, सन् २००१।
12. शर्मा, वासुदेव, कुमारसंभवम्, नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९८५।
13. अमरसिंह, अमरकोष, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, बंग्लो रोड, दिल्ली, सन् १९८५
14. पाण्डेय, डा. उमेशचन्द्र, याज्ञवल्क्यस्मृति, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् २०३९
15. हरदत्त, गौतमधर्मसूत्र मिताक्षरावृत्ति सहित, हिन्दी अनु. पाण्डेय उमेशचन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सम्वत् २०५६।
16. वशिष्ठधर्मसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सम्वत् १९३०।
17. वेदव्यास, श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् २०६५।